# बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना

बौद्धधर्म भारत की श्रमण परम्परा का धर्म है। सामान्यतया श्रमण परम्परा को निवृत्तिमार्गी माना जाता है और इस आधार पर यह कल्पना की जाती है कि निवर्तक धारा का समर्थक और संन्यासमार्गी परम्परा का होने के कारण बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना का अभाव है। यद्यपि बौद्धधर्म संसार की दु:खमयता का चित्रण करता है और यह मानता है कि सांसारिक तृष्णाओं और वासनाओं के त्याग से ही जीवन के परमलक्ष्य निर्वाण की उपलब्धि सम्भव है। यह भी सत्य है कि श्रमणधारा के अन्य धर्मों की तरह प्रारम्भिक बौद्धधर्म में भी श्रामण्य या भिक्षु-जीवन पर अधिक बल दिया गया। उसमें गृहस्थ धर्म और गृहस्थ जीवनशैली को वरीयता प्रदान नहीं की गयी, किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि बौद्ध धर्म सामाजिक चेतना अर्थात् समाज कल्याण की भावना से पराङ्मुख रहा है, भ्रांतिपूर्ण ही होगा। फिर भी यहाँ हमें यह ध्यान में रखना होगा कि श्रमण परम्परा में जो सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित हैं, वे अवश्य ही प्रवर्तक धर्मों की अपेक्षा थोड़े भिन्न प्रकार के हैं।

सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से भारतीय चिन्तन को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। जहां वैदिक युग में 'संगच्छध्वं, संवदध्वं' के उद्घोष के द्वारा सामाजिक चेतना को विकसित करने का प्रयत्न किया गया, वहीं औपनिषदिक युग में इस सामाजिक चेतना के लिये दार्शनिक आधार का प्रस्तुतीकरण किया गया। समाज के सदस्यों के बीच अभेद निष्ठा जागृत करके एकात्मकता की अनुभूति कराने का प्रयत्न किया गया। ईशावास्योपनिषद् का ऋषि कहता है :-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।। सूत्र - ६

अर्थात् जो सभी प्राणियों को अपने से और अपने को सभी प्राणियों में देखता है, वह इस एकात्मकता की अनुभूति के कारण किसी से भी घृणा नहीं करता है। औपनिषदिक युग में यह एकात्मकता की अनुभूति ही सामाजिक चेतना का आधार बनी। किन्तु सामान्यरूप से श्रमण परम्परा में जो सामाजिक चेतना के सन्दर्भ उपस्थित हैं वे वस्तुत: सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि के लिए हैं। बौद्धधर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में मुख्यत: सामाजिक जीवन को दूषित बनाने वाले तत्त्वों के निरसन पर बल दिया गया है। बौद्धधर्म की पंचशील की अवधारणा में वस्तुत: उन दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने का प्रयत्न किया गया है जो हमारे सामाजिक सम्बन्धों को विकृत करती थीं। पंचशीलों के माध्यम से उसमें जो हिंसा, असत्यभाषण, चौर्यकर्म, व्यभिचार और मादक द्रव्यों के सेवन से दूर रहने की बात कही गयी है उसका मुख्य आधार हमारी सामाजिक चेतना ही है। हिंसा का अर्थ है दूसरे प्राणियों को कष्ट देना, उनके हितों की उपेक्षा करना, इसी प्रकार असत्य भाषण का तात्पर्य दूसरों को गलत जानकारी देना या उनके साथ कपटपूर्ण व्यवहार करना। चोरी का अर्थ है, दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण या शोषण करना। इसी प्रकार व्यभिचार का मतलब है सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध यौन सम्बन्ध स्थापित करना और सदाचार के मूल्यों की अवहेलना कर सामाजिक सम्बन्धों को विषाक्त एवं अस्थिर बनाना। इसी प्रकार मादक द्रव्यों का सेवन भी सामाजिक चेतना और दायित्वबोध की उपेक्षा का ही कारण कहा जा सकता है। यदि हम गहराई से विचार करें तो सामाजिक जीवन के अभाव में इन पंचशीलों का कोई अर्थ और संदर्भ ही नहीं रह जाता। पंचशील के रूप में जो मर्यादाएँ बौद्ध धर्म के द्वारा प्रस्तुत की गयी हैं, उनका मुख्य सम्बन्ध हमारे सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि से ही है। बौद्ध साहित्य में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं, जो व्यक्ति को उसके सामाजिक सम्बन्धों और दायित्वों का बोध कराते हैं, जिनकी चर्चा हम इसी आलेख के अन्त में कर रहे हैं।

## संघ की सर्वोपरिता

श्रमण परम्परा में और विशेष रूप से बौद्धधर्म में धर्मसंघ की स्थापना का जो प्रयत्न हुआ वह वस्तुत: इस बात का सूचक है कि बौद्ध धर्म में उसके प्रारम्भिक काल से ही सामाजिक चेतना उपस्थित थी। सामूहिक-साधना या संघीय जीवनशैली बौद्ध धर्म की विशिष्ट देन है। बुद्ध ने अपने जीवन के अंतिम क्षण तक संघीय-जीवन और संघ की महत्ता को स्वीकार किया। अपने परिनिर्वाण के अवसर पर भी उन्होंने अपने स्थान पर किसी भिक्षु को स्थापित न करके यही कहा कि मेरे पश्चात् संघ ही भिक्षु-भिक्षुणी वर्ग का अनुशास्ता होगा। जो लोग बौद्धधर्म को श्रमण या संन्यासमार्गीय परम्परा का धर्म होने के कारण यह कहते हैं कि उसमें सामाजिक चेतना का अभाव है वे वस्तुत: बौद्धधर्म की इस सामाजिक प्रकृति से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। बौद्धधर्म में सदैव ही संघ की महत्ता और गरिमा का गुण-गान किया गया और साधनामय जीवन में सहवर्गीय भिक्षु और प्राणियों की सेवा को साधना का उच्च आदर्श माना गया। समस्त आचार नियमों का मूल स्रोत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्ध के पश्चात् संघ ही रहा है। संघ की दूसरे शब्दों में समाज की सर्वोपरिता को बौद्धधर्म ने सदैव ही स्वीकार किया है। त्रिशरणों में 'संघशरण' का विधान इस बात का प्रमाण है कि बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना को सदैव ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

**राग का प्रहाण और सामाजिक चेतना**

बौद्धधर्म राग के प्रहाण पर बल देता है और इसीलिए वह श्रामण्य (संन्यास) और निर्वाण की बात कहता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि राग का प्रहाण ही ऐसा तत्त्व है, जो व्यक्ति की सामाजिक चेतना को अवरुद्ध करता है, किन्तु यह मान्यता भ्रान्त ही है। राग या ममत्व से ऊपर उठने का अर्थ सामाजिकता की चेतना से विलग होना नहीं है। यह सत्य है कि राग के प्रहाण के लिये व्यक्ति श्रामण्य को स्वीकार करता है और अपने पारिवारिक सम्बन्धों को भी तोड़ लेता है किन्तु यह पारिवारिक जीवन से विरक्त होना सामाजिक जीवन से विमुख होना नहीं है, अपितु यह हमारी सामाजिक चेतना और सामाजिक सम्बन्धों को व्यापक बनाने का ही एक प्रयत्न है। वास्तविकता तो यह है कि रागात्मकता की उपस्थिति में हमारे यथार्थ सामाजिक सम्बन्ध बन ही नहीं पाते। राग हमें व्यापक बनाने की अपेक्षा सीमित ही करता है। वह अपने और पराये का घेरा खड़ा करता है। यदि हम ईमानदारीपूर्वक विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि सामाजिक जीवन और सामाजिक सम्बन्धों की विषमता के मूल में कहीं न कहीं व्यक्ति की रागात्मकता ही कार्य करती है। मैं और मेरा ऐसे प्रत्यय हैं जो हमें चाहे कुछ लोगों के साथ जोड़ते हों, लेकिन वे हमें बहुजन समाज से तो अलग ही करते हैं। ममत्व की उपस्थिति हमारी सामाजिक चेतना की संकीर्णता की ही सूचक है। रागभावना जोड़ने का काम कम और तोड़ने का काम अधिक करती है। ममत्व की उपस्थिति में समत्व सम्भव नहीं है और समता के अभाव में सामाजिकता नहीं होती है। सामान्यतया राग-द्वेष का सहगामी होता है और जब सम्बन्ध राग और द्वेष के आधार पर बनते हैं तो वे विषमता और संघर्ष को जन्म देते हैं। बोधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं -

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दुःखानि भयानि च ।
सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रहेण ।।
आत्मानमपरित्यज्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते ।
यथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् संसार के सभी दुःख और भय तथा तज्जन्य उपद्रव ममत्व के कारण ही होते हैं, जब तक ममत्व बुद्धि का परित्याग नहीं किया जाता, तब तक उन दुःखों की समाप्ति सम्भव नहीं है। जैसे अग्नि का परित्याग किये बिना तज्जन्य दाह से बचना सम्भव नहीं है, वैसे ही ममत्व का परित्याग किये बिना दुःख से बचना सम्भव नहीं है। पर में आत्मबुद्धि या राग भाव के कारण ही "मैं" और "मेरे" पन का भाव उत्पन्न होता है। यही ममत्व भाव है। इसी आधार पर व्यक्ति मेरा परिवार, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ऐसे क्षुद्र घेरे बनाता है। परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और संकुचित राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज यदि मानव जाति के सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में कोई भी तत्त्व सबसे अधिक बाधक है तो वह ममत्व या रागात्मकता का भाव ही है। ममत्व या रागात्मकता व्यक्ति को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठने देती। बौद्ध दर्शन इसी लिए राग के प्रहाणपर बल देकर सामाजिक चेतना को एक यथार्थ दृष्टि प्रदान करता है। क्योंकि राग सदैव ही कुछ पर होता है और जो कुछ पर होता है वह सब पर नहीं हो सकता है। राग के कारण हमारे स्व की सीमा संकुचित होती है। यह अपने और पराये के बीच दीवार खड़ी करता है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है, उसके हित की कामना करता है, और जिसे पराया मानता है उसके हितों का हनन करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि उन्हीं के प्रति किये जाते हैं जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। अतः रागात्मक सम्बन्धों के आधार पर सामाजिकता की सच्ची चेतना जागृत नहीं होती।

यद्यपि रागात्मकता या ममत्व के घेरे को पूरी तरह तोड़ पाना सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उसका एक सीमा तक विसर्जन किये बिना अपेक्षित सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता । परिवार की सेवा के लिये हमें अपने वैयक्तिक क्षुद्र स्वार्थों को, समाज की सेवा के लिये पारिवारिक स्वार्थों को और राष्ट्र की सेवा के लिये जाति, धर्म और वर्ग के क्षुद्र स्वार्थों को छोड़ना होगा। इन क्षुद्र स्वार्थों का एक सीमा तक विसर्जन किये बिना सामाजिक चेतना का विकास सम्भव नहीं है। ममत्व एवं स्वहित की वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से सामाजिकता की विरोधी सिद्ध होती है। उसके होते हुए एक व्यापक सामाजिक चेतना का विकास सम्भव नहीं होता है।

पुनः समाज त्याग और समर्पण के मूल्यों के आधार पर खड़ा होता है। यदि मुझे पत्नी, बच्चों एवं परिवार की सेवा करना है तो कहीं न कहीं अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैयक्तिक स्वार्थों को त्यागना ही होगा। इसी प्रकार राष्ट्र की सेवा के लिए पारिवारिक और जातीय स्वार्थों को छोड़ना ही होगा। यही नहीं, यदि हम समग्र मानव जाति या प्राणिमात्र का कल्याण चाहते हैं तो राष्ट्रीयता के क्षुद्र घेरे से भी ऊपर उठना होगा। इस विश्लेषण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि बौद्ध परम्परा में जो राग और तृष्णा के प्रहाण की बात की गयी है वह सामाजिक चेतना के विकास में बाधक नहीं अपितु साधक है। हमारे सामाजिक सम्बन्धों का आधार राग नहीं, अपितु विवेक का तत्त्व होना चाहिए। कर्तव्यबोध की भावना ही एक ऐसा तत्त्व है जो हमारी सामाजिक चेतना का आधार बन सकता है। राग की भाषा मेरेपन की भाषा है, अधिकार की भाषा है, जबकि विवेक की भाषा कर्तव्यबोध की भाषा है। जहां केवल अधिकारों की बात होती है वहां केवल विकृत सामाजिकता पनपती है। राग के आधार पर जो भी सामाजिक चेतना निर्मित होगी वह अनिवार्य रूप से वर्ग भेद और वर्ण भेद को जन्म देगी। बौद्धधर्म में जिस सामाजिक चेतना के निर्माण की बात कही गयी है वह सामाजिक चेतना प्रज्ञा और सार्वभौम करुणा के आधार पर फलित होती है। उसमें मेरे और तेरे या अपने या पराये की चेतना ही समाप्त हो जाती है। परम प्रज्ञा से जो करुणा निःसृत होती है, वह सीमित नहीं होती है, वह अनन्त होती है, वह किसी एक पर नहीं, अपितु सभी पर होती है।

**संन्यास और समाज-सेवा**

सामान्यतया संन्यास की अवधारणा को भी सामाजिकता का विरोधी माना जाता है। बौद्धधर्म निश्चय ही एक संन्यासमार्गी परम्परा का धर्म है। यह भी सही है कि संन्यासी घर, परिवार और समाज से अपना सम्बन्ध तोड़ लेता है तथा धन, सम्पत्ति का भी परित्याग कर देता है। मात्र यही नहीं, एक सच्चा संन्यासी तो लोकेषणा का भी त्याग कर देता है, किन्तु धन, सम्पदा, परिवार और लोकेषणा का त्याग, समाज का परित्याग नहीं है, वस्तुतः यह त्याग स्वार्थवृत्ति का त्याग है, वासनामय जीवन का त्याग है। संन्यासी का यह संकल्प उसे समाज विमुख नहीं बनाता है अपितु समाज कल्याण की उच्चतर भूमिका में अधिष्ठित करता है। क्योंकि सच्चा समाज कल्याण निःस्वार्थता और विराग की भूमि पर अधिष्ठित होकर ही किया जा सकता है। अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए एकत्रित व्यक्तियों का समूह समाज नहीं होता और ऐसे स्वार्थी और वासना-लोलुप व्यक्तियों तथाकथित सेवा का कार्य समाज-सेवा की कोटि में नहीं आता है। समाज उन लोगों का समूह होता है जो अपने वैयक्तिक और पारिवारिक हितों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का परित्याग करते हैं। निःस्वार्थभाव से लोकमंगल के लिए उठ खड़े होते हैं। चोरों और लुटेरों का भी समूह होता है किन्तु वह समाज नहीं कहलाता। समाज की भावना ही वहीं पनपती है, जहाँ त्याग और स्वहित के विसर्जन का संकल्प होता है। भगवान बुद्ध ने जो भिक्षु संघ की व्यवस्था दी, वह सामाजिक चेतना की विरोधी नहीं है। बौद्ध भिक्षु लोकमंगल और सामाजिक दायित्वों से विमुख होकर भिक्षु नहीं बनता, अपितु वह लोककल्याण के लिए ही भिक्षु जीवन अंगीकार करता है। बुद्ध का यह आदेश- "चरत्थभिक्खवे चारिक्कं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय, लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमुनस्सानं" इस बात का प्रमाण है कि उनका भिक्षु संघ लोकमंगल के लिए ही है। संन्यास की भूमिका में निश्चित ही स्वार्थ और ममत्व के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर भी संन्यास लोक कल्याण और सामाजिक दायित्वों से पलायन नहीं है, अपितु बहुजन समाज के प्रति समर्पण है। सच्चा श्रमण उस भूमिका पर खड़ा होता है जहां वह अपने को समष्टि में और समष्टि को अपने में देखता है। वस्तुतः निर्ममत्व और निःस्वार्थभाव से तथा अपने और पराये के संकीर्ण घेरे से ऊपर उठकर लोककल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहना, श्रमण जीवन की सच्ची भूमिका है। सच्चा श्रमण वह व्यक्ति है जो लोकमंगल के लिए अपने को और अपने शरीर को भी समर्पित कर देता है।

संन्यास का तात्पर्य है व्यक्ति अपने और पराये के घेरे से ऊपर उठे और प्राणिमात्र के प्रति उसका हृदय करुणाशील बने।

आचार्य शान्तिदेव बोधिचर्यावतार में लिखते हैं -

कायस्यावयवत्वेन यथाभीष्टा करादयः।
जगतोऽवयवत्वेन तथा कस्मान्नदेहिनः ॥ बोधि॰ ८/११४

जिस प्रकार हाथ आदि स्व शरीर के अवयव होने से प्रिय हो जाते हैं तो फिर जगत् के अवयव होने से सभी प्राणी प्रिय क्यों नहीं होंगे ?

वस्तुतः सच्चा श्रमण और सच्चा संन्यासी वह व्यक्ति होता है जिसकी चेतना अपने और पराये के भेद से ऊपर उठ जाती है। श्रामण्य की भूमिका न तो आसक्ति की भूमिका है और न उपेक्षा की, अपितु वह एक ऐसी भूमिका है जहां मात्र कर्तव्य भाव से लोक कल्याण के भाव से जीवन के व्यवहार फलित होते हैं। समाज में नैतिक चेतना को जागृत करना तथा समाज में आनेवाली दुष्प्रवृत्तियों से व्यक्तियों एवं समाज को बचाकर लोक मंगल के लिए प्रेरित करना ही संन्यासी का सर्वोपरि कर्तव्य माना गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## निर्वाण का प्रत्यय और समाज

यद्यपि बौद्ध दर्शन में निर्वाण को साधना का सर्वोपरि लक्ष्य माना गया है, किन्तु निर्वाण का यह प्रत्यय भी सामाजिक चेतना से विमुख नहीं कहा जा सकता है। निर्वाण का अर्थ है तृष्णा और आसक्ति का प्रहाण। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में यह मानसिक तनावों से मुक्ति का प्रयास ही है। वस्तुत: निर्वाण प्राप्त चित्त एक ऐसा शांत चित्त होता है, जो तनावों एवं विक्षोभों से मुक्त रहता है। यदि हम निर्वाण के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता के सन्दर्भ में विचार करें तो हमें इन्हीं मानसिक विक्षोभों के निराकरण के सन्दर्भ में ही उस पर विचार करना होगा। सम्भवत: इस सम्बन्ध में कोई भी दो मत नहीं होगा कि राग, द्वेष, तृष्णा, आसक्ति, ममत्व, ईर्ष्या, वैमनस्य आदि मनोवृत्तियाँ हमारे सामाजिक जीवन के लिए अधिक घातक हैं। यदि इन मनोवृत्तियों से मुक्त होना ही मुक्ति का अर्थ है तो मुक्ति का सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन के साथ जुड़ जाता है। निर्वाण मात्र एक मरणोत्तर अवस्था नहीं है अपितु वह हमारे जीवन से सम्बन्धित है। भारतीय चिन्तकों ने मोक्ष को पुरुषार्थ माना है। उसका तात्पर्य यह है कि वह इसी जीवन से प्राप्तव्य है। जो लोग निर्वाण को एक मरणोत्तर अवस्था मानते हैं, वे निर्वाण के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं।

इस जीवनमुक्ति के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता को हम अस्वीकार भी नहीं कर सकते, क्योंकि जीवनमुक्त एक ऐसा व्यक्ति है जो सदैव लोक-कल्याणकारी होता है। बौद्ध दर्शन में बुद्ध, अर्हत् एवं बोधिसत्व की जो अवधारणाएँ प्रस्तुत की गयी हैं और उनके व्यक्तित्व को जिस रूप में चित्रित किया गया है, उससे हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि निर्वाण के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता भी है। वह लोक मंगल और मानव-कल्याण का एक महान आदर्श माना जा सकता है। जन-जन को दु:खों से मुक्त करना ही वास्तविक मुक्ति है। बौद्ध दार्शनिकों ने वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा लोक-कल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहने को अधिक महत्त्व दिया है। बौद्ध-दर्शन में बोधिसत्व का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह हमें स्पष्ट रूप से यह बताता है कि केवल वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। बोधिसत्व तो लोकमंगल के लिए अपने बन्धन और दु:ख की कोई परवाह नहीं करता, वह कहता है -

बहुनामेकदु:खेन यदि दु:खं विगच्छति ।
उत्पाद्यमेव तद् दु:खं सदयेन परात्मनो: ।। बोधि० ८/१०५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रमोद्यसागराः ।
तैरेव ननु पर्याप्तं, मोक्षेणारसिकेन किम् ।। बोधि० ८/१०८

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दुःख दूर होता हो, तो करुणापूर्वक उनके दुःखों को दूर करना ही अच्छा है। प्राणियों को दुःखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनन्द प्राप्त होता है, वह क्या कम है, फिर नीरस निर्वाण प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है?

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्वाण की अवधारणा भी सामाजिकता की विरोधी नहीं है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण का अर्थ है आत्मभाव का पूर्णतया विगलन। वस्तुतः मैं, अहं और मेरेपन के भाव से मुक्त हो जाना ही निर्वाण प्राप्त करना है। इस दृष्टि से निर्वाण का अर्थ है, अपने आपको मिटाकर समष्टि या समाज में लीन कर लेना। बौद्ध दर्शन में वही व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है जो अपने व्यक्तित्व को समष्टि में लीन कर दे। आचार्य शान्तिदेव 'बोधिचर्यावतार' में लिखते हैं-

सर्वत्यागश्च निर्वाणं, निर्वाणार्थि च मे मनः ।
त्यक्त्वं चेन्मया सर्वं वरं सत्वेषु दीयताम् ।। बोधि० ३/११

अथार्त् यदि सर्व का त्याग ही निर्वाण है और मेरा मन निर्वाण को चाहता है, तो सब कुछ जो त्याग करना है, उसे अन्य प्राणियों को क्यों न दे दिया जाये। इस प्रकार शांतिदेव की दृष्टि में व्यक्ति का पूर्णतः समष्टि में लीन हो जाना अर्थात् अपने को प्राणिमात्र की सेवा में समर्पित कर देना ही साधना का एकमात्र आदर्श है। अतः निर्वाण का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, यह धारणा भ्रान्त है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि बौद्ध दर्शन में, चाहे श्रामण्य या संन्यास का प्रत्यय हो, चाहे निर्वाण का, वह किसी भी अर्थ में सामाजिकता का विरोधी नहीं है। बौद्ध आचार्यों की दृष्टि और विशेषकर महायान आचार्यों की दृष्टि सदैव ही सामाजिक चेतना से परिपूर्ण रही है और उन्होंने सदैव ही लोक मंगलकारी दृष्टि को जीवन का आदर्श माना है । आचार्य शान्तिदेव बोधिचर्यावतार (८/१२५-१२९) में बौद्ध धर्म और दर्शन में सामाजिक चेतना कितनी उदात्त है, इसका स्पष्ट चित्रण करते हैं। हम यहां उनके वचनों को यथावत प्रस्तुत कर रहे हैं -

यदि दास्यामि किं भोक्ष्ये इत्यात्मार्थे पिशाचता ।
यदि भोक्ष्ये किं ददामीति परार्थ देवराजता ।। बोधि० ८/१२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'यदि दूंगा तो मैं क्या खाऊंगा' यह विचार पिशाचवृत्ति है। अपने खाने को दूसरे की अपेक्षा पराये के लिए देने की भावना रखना ही देवराजता है।

आत्मार्थं पीडयित्वान्यं नरकादिषु पच्यते ।
आत्मानं पीडयित्वा तु परार्थं सर्वसंपदः ।। बोधि० ८/१२६

अपने लिए दूसरे को पीड़ा देकर (मनुष्य को) नरक आदि में पकना पड़ता है। पर दूसरे के लिए स्वयं क्लेश उठाने से (मनुष्य को) सब सम्पत्तियां मिलती हैं।

दुर्गतिर्नीचता मोर्ख्यं ययैवात्मोन्नतीच्छया।
तामेवान्यत्र संक्राम्य सुगतिः सत्कृतिर्मतिः।। बोधि० ८/१२७

अपने प्रकर्ष की जिस इच्छा से दुर्गति, परवशता और मूर्खता मिलती है, उसी (इच्छा) का दूसरों के हित में संक्रमण करने से सुगति, सत्कार और प्रज्ञा मिलती है।

आत्मार्थं परमाज्ञाप्य दासत्वाद्यनुभूयते ।
परार्थं त्वेनमाज्ञाप्य स्वामित्वाद्यनुभूयते ।। बोधि० ८/१२८

अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को आज्ञा देकर, उस कर्म के परिणाम स्वरूप दासता आदि का अनुभव करना पड़ता है। किन्तु दूसरे के हित के लिए अपने को आज्ञा देकर उस कर्म के फलस्वरूप प्रभुता आदि का अनुभव करने को मिलता है।

ये केचिद् दुःखिता लोके सर्वे ते स्वसुखेच्छया ।
ये केचित् सुखिता लोके सर्वे तेऽन्यसुखेच्छया ।। बोधि० ८/१२९

संसार में जो कोई दुःखी हैं, वे सब अपनी सुखेच्छा के कारण। संसार में जो कोई सुखी हैं, वे परकीय सुखेच्छा के कारण हैं।

इस समग्र चिन्तन में यह फलित होता है कि बौद्धधर्म में लोकमंगल की उदात्त भावना भगवान बुद्ध से लेकर परवर्ती आचार्यों में भी यथावत कायम रही है। भगवान बुद्ध ने जो 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' का उद्घोष किया था वह बौद्ध धर्म दर्शन का मुख्य अधिष्ठान है।

ऐसी लोकमंगल की सर्वोच्च भावना का प्रतिबिम्ब हमें आचार्य शान्तिदेव के 'शिक्षासमुच्चय' नामक ग्रन्थ में मिलता है। हिन्दी में अनूदित उनकी निम्न पंक्तियां मननीय हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस दुःखमय नरलोक में,
जितने दलित, बन्धग्रसित, पीड़ित विपत्ति विलीन हैं,
जितने बहुधन्धी विवेक विहीन हैं।
जो कठिन भय से और दारुण शोक से अतिदीन हैं,
वे मुक्त हों निजबन्ध से, स्वच्छन्द हों सब द्वन्द्व से,
छूटे दलन के फन्द से,
हो ऐसा जग में, दुःख से विलखे न कोई,
वेदनार्थ हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग धरे न कोई,
हो सभी सुखशील, पुण्याचार धर्मव्रती,
सबका हो परम कल्याण,
सबका हो परम कल्याण ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org